

सिद्धेश्वर मुखर्जी

बनाम

भुबनेश्वर प्रसाद नारायण सिंह एवं अन्य।

[मेहर चंद महाजन, मुखर्जी और जगन्नाथदास न्यायमूर्तिगण]

हिंदू विधि - ऋण - पुत्रों का धार्मिक दायित्व - कनिष्ठ सदस्य के विरुद्ध ऐसे ऋणों के लिए डिक्री जो अनैतिक या अवैध नहीं हैं - निष्पादन में उसके हित की बिक्री - खरीदार के अधिकार - कनिष्ठ सदस्य के पुत्रों का हित, क्या खरीदार को हस्तांतरित होता है - ननोमी बाबूअसिन के मामले का नियम - खरीदार का कब्जे या मुनाफे के हिस्से का अधिकार।

एक व्यक्ति जिसने संयुक्त हिंदू परिवार के एक सदस्य के खिलाफ उसके बकाया ऋण के लिए डिक्री प्राप्त की है, वह संयुक्त परिवार की संपत्ति में अपने ऋणी के हित को कुर्क करने और बेचने का हकदार है, और यदि ऋण अनैतिक या अवैध नहीं था, तो उस बिक्री द्वारा संयुक्त परिवार की संपत्ति में डिक्री-ऋणी के पुत्रों का हित भी खरीदार को हस्तांतरित हो जाएगा, भले ही डिक्री-ऋणी परिवार का कर्ता न रहा हो और डिक्री प्राप्त होने तथा संपत्तियों की बिक्री के समय परिवार में केवल पिता और पुत्र ही शामिल न रहे हों। यह आवश्यक नहीं है कि पुत्रों को वाद या निष्पादन की कार्यवाही में पक्षकार बनाया जाए।

ललता प्रसाद बनाम गजाधर (आई.एल.आर. 55 ऑल. 28), छोटेलाल बनाम गणपत (आई.एल.आर. 57 ऑल. 176) और विरय्या बनाम पार्थसारथी (आई.एल.आर.57 मद्रास 190) को अनुमोदित किया गया।

ननोमी बाबूअसिन के मामले में प्रिवी काउंसिल द्वारा निर्धारित नियम का अनुप्रयोग केवल उन मामलों तक सीमित नहीं है जहाँ पिता परिवार का मुखिया था और उस क्षमता में वह वाद या निष्पादन

की कार्यवाही में अपने पुत्रों का प्रतिनिधित्व कर सकता था; क्योंकि, पुत्रों के इस अधिकार के अधीन कि वे यह दावा कर सकें और सिद्ध कर सकें कि उनके पिता द्वारा लिया गया ऋण ऐसा नहीं था जो हिंदू कानून के तहत उन पर बाध्यकारी हो, पिता, भले ही वह कर्ता न रहा हो, बिक्री या निष्पादन की कार्यवाही में अपने पुत्रों का उतना ही प्रभावी ढंग से प्रतिनिधित्व कर सकता था जितना वह स्वयं कर्ता होने की स्थिति में कर सकता था।

वह व्यक्ति जिसने किसी संयुक्त हिंदू परिवार के सदस्य के विरुद्ध डिक्री के निष्पादन में उसके हित को खरीदा है, वह अपनी खरीद की तारीख से संयुक्त परिवार की संपत्तियों की आय के हिस्से की वसूली के लिए अन्य सह-दायिकों के विरुद्ध वाद दायर करने का हकदार नहीं है। वह अपने अधिकारों का निपटारा केवल विभाजन के वाद के माध्यम से ही कर सकता है और उसके कब्जे का अधिकार केवल उसी अवधि से शुरू होगा जब उसके पक्ष में विशिष्ट आवंटन कर दिया जाएगा।

दीवानी अपीलीय क्षेत्राधिकार: 1951 की दीवानी अपील संख्या 53 से 55।

न्याय और डिक्री दिनांक 8 सितम्बर 1948, पटना उच्च न्यायालय (माननीय न्यायमूर्ति मनोहर लाल तथा महाबीर प्रसाद) द्वारा दीवानी अपील संख्या 219/1946 तथा 40 और 39/1945 में पारित, जो कि अधीनस्थ न्यायाधीश, मोतिहारी की न्यायालय द्वारा मूल वाद संख्या 108, 109 और 110/1943 में दिनांक 29 जनवरी 1946 तथा 16 सितम्बर 1944 को पारित न्याय और डिक्री के विरुद्ध दायर अपीलों से संबंधित हैं।

सी. के. दफ्तरी, भारत के सॉलिसिटर-जनरल (रामेश्वर नाथ के साथ) अपीलकर्ता की ओर से।

रतन लाल चावला (के. एन. अग्रवाल के साथ) उत्तरदाता संख्या 1 और 2 की ओर से।

एच. जे. उमरीगर उत्तरदाता संख्या 3 और 4 की ओर से।

1953, अक्टूबर 5। न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति मुखर्जी द्वारा सुनाया गया।

1951 की दीवानी अपील संख्या 53।

यह अपील वादी की ओर से है और पटना उच्च न्यायालय की एक खंडपीठ के 8 सितंबर, 1948 के उस निर्णय और डिक्री के विरुद्ध निर्देशित है, जिसने मोतिहारी के अतिरिक्त अधीनस्थ न्यायाधीश द्वारा विभाजन वाद संख्या 108/6, 1943/46 में पारित निर्णय और डिक्री को संशोधित किया था। उन्हीं पक्षों के बीच दो धन संबंधी वाद थे जिनकी सुनवाई विभाजन के वाद के साथ ही की गई थी और उन दोनों को विचारण न्यायाधीश द्वारा डिक्री कर दिया गया था, लेकिन अपील पर उच्च न्यायालय ने उन्हें खारिज कर दिया था। इस न्यायालय की दीवानी अपील संख्या 54 और 55 इन्हीं अपीलों से उत्पन्न होती हैं और हम उन पर अलग से विचार करेंगे।

जहाँ तक मुख्य अपील का संबंध है, महत्वपूर्ण तथ्य निर्विवाद हैं और विवाद एक संक्षिप्त बिंदु के इर्द-गिर्द केंद्रित है, जो विवादित संपत्तियों में उस हिस्से की सीमा से संबंधित है जिस पर वादी का कानूनी हक कहा जा सकता है। वादी ने दावा किया था कि वह अनुसूची की भूमि में 4 आना हिस्से का हकदार था और इस दावे को विचारण न्यायाधीश द्वारा स्वीकार कर लिया गया था। दूसरी ओर, उच्च न्यायालय ने यह माना कि विवादित संपत्तियों में वादी का हक केवल 1 आना 4 पाई हिस्से तक ही सीमित था, और केवल इसी हिस्से के संबंध में वह विभाजन का दावा कर सकता था। इस अपील में हमारे समक्ष इसी निर्णय की औचित्यपूर्णता को चुनौती दी गई है।

हमारे समक्ष पक्षों द्वारा उठाए गए तर्कों को समझने के लिए, कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों का वर्णन करना सुविधाजनक हो सकता है। वाद की संपत्तियाँ, जो चंपारण कलेक्टोरेट की तौजी संख्या 703 में शामिल हैं, स्वीकार्य रूप से प्रथम पक्ष के प्रतिवादियों और उनके पूर्वजों की थीं।

प्रतिवादी संख्या 1, भुवनेश्वर प्रसाद, जो वर्तमान मुकदमेबाजी में मुख्य प्रतिवादी हैं, ने 1932 से कुछ समय पहले एक वचन पत्र के आधार पर पंचानन बनर्जी नामक व्यक्ति से एक राशि उधार ली थी। पंचानन ने इस ऋण की वसूली के लिए मोतिहारी के अधीनस्थ न्यायाधीश के न्यायालय में भुवनेश्वर के खिलाफ एक वाद दायर किया और डिक्री प्राप्त करने के बाद, मोतिहारी के अधीनस्थ न्यायाधीश की अदालत के वर्ष 1932 के निष्पादन मामला संख्या 16 में डिक्री को निष्पादन में लगा दिया। इन कार्यवाहियों के दौरान, वाद की संपत्तियों में डिक्री-ऋणी के अधिकार, हक और हित को, जिसे उसमें 4 आना हिस्सा बताया गया था, बिक्री के लिए रखा गया और 7 सितंबर, 1932 को स्वयं डिक्री-धारक द्वारा खरीद लिया गया। खरीदार को 25 जनवरी, 1935 को कब्जे की सुपुर्दगी मिल गई। यह स्वीकार किया गया है कि बिक्री के समय, भुवनेश्वर अपने दादा बिशुन प्रकाश, अपने पिता लक्ष्मी प्रसाद और अपने दो बेटों, जो इस वाद में प्रतिवादी 2 और 3 हैं, के साथ एक अविभाजित हिंदू परिवार का हिस्सा थे, जिसके कर्ता स्पष्ट रूप से उनके दादा थे; और इस बात पर कोई विवाद नहीं है कि यदि उस समय विभाजन हुआ होता, तो भुवनेश्वर प्रसाद को अपने बेटों के साथ संयुक्त पैतृक संपत्ति में 4 आना हिस्सा मिलता। पंचानन ने निष्पादन बिक्री में अपने द्वारा खरीदे गए हित को 1 फरवरी, 1935 के हस्तांतरण पत्र के माध्यम से वादी को बेच दिया, और इसी हस्तांतरण के बल पर वादी ने वाद की संपत्तियों में 4 आना हिस्से के विशिष्ट आवंटन का दावा करते हुए वर्तमान वाद दायर किया। भुवनेश्वर और उनके तीन बेटे, यानी प्रतिवादी 2, 3 और 4, इस वाद में मुख्य प्रतिवादी हैं और इस बात पर विवाद नहीं है कि वर्तमान समय में वाद की संपत्तियों में शेष 12 आना हिस्से के वे स्वामी हैं। प्रतिवादी 5, 6 और 7 को इस आरोप के आधार पर प्रतिवादी पक्ष बनाया गया था कि वे 12

आना के स्वामियों के अधीन *जरपेशगीदारों* के रूप में संयुक्त संपत्तियों के विभिन्न हिस्सों पर काबिज थे।

वाद का मुख्य रूप से प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा विरोध किया गया था और उसके द्वारा दी गई ठोस दलील यह थी कि चूंकि पंचानन द्वारा धन संबंधी वाद केवल उसी के विरुद्ध दायर किया गया था और उसके पुत्रों को न तो वाद में और न ही निष्पादन की कार्यवाही में पक्षकार बनाया गया था, इसलिए बिक्री द्वारा संयुक्त परिवार की संपत्तियों में केवल उसका अपना अविभाजित हित हस्तांतरित हुआ, न कि उसके पुत्रों का। परिणामस्वरूप, निष्पादन लेनदार अपनी खरीद के माध्यम से वाद की संपत्तियों में 1 आना 4 पाई से अधिक हिस्से का अधिग्रहण नहीं कर सकता था और वादी वैध रूप से केवल इसी हिस्से पर दावा कर सकता था। इस दलील को अधीनस्थ न्यायाधीश ने खारिज कर दिया, जिनका विचार था कि चूंकि भुवनेश्वर द्वारा लिया गया ऋण अनैतिक उद्देश्यों के लिए नहीं था, इसलिए उसके लेनदार के लिए यह विकल्प खुला था कि वह अपने देय की वसूली न केवल पैतृक संपत्ति में पिता के अविभाजित सह-दायिक हित से करे, बल्कि उसमें पिता और पुत्रों के संपूर्ण हित से करे। निष्पादन की कार्यवाहियों से पता चला कि लेनदार का इरादा पुत्रों के हित के साथ-साथ पिता के हित को भी कुर्क करने और बेचने का था और इसलिए, जब तक कि पुत्र यह दिखाने में सफल नहीं हो जाते कि ऋण ऐसे थे जिन्हें चुकाने के लिए वे हिंदू कानून के नियमों के तहत बाध्य नहीं थे, यह तथ्य कि उन्हें कार्यवाही में पक्षकार नहीं बनाया गया था, पूरी तरह से महत्वहीन था। परिणाम यह हुआ कि विचारण न्यायाधीश ने वादी के दावे को पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया और अनुसूची की संपत्तियों में वादी के एक-चौथाई हिस्से की घोषणा करते हुए एक प्रारंभिक डिक्री पारित की। इसके बाद प्रतिवादी संख्या 1 ने उच्च न्यायालय में अपील की। उच्च न्यायालय के विद्वान न्यायाधीशों,

जिन्होंने अपील की सुनवाई की, उनकी राय थी कि विचारण न्यायालय का निर्णय अकाट्य होता यदि प्रतिवादी संख्या 1 स्वयं और उसके पुत्रों वाले संयुक्त परिवार का मुखिया होता। ऐसे मामलों में वह अपने पुत्रों के हितों का प्रतिनिधित्व कर सकता था और निष्पादन बिक्री में संपूर्ण हित बेचा जा सकता था। लेकिन चूंकि इस मामले में वादी (ऋणी) स्वयं परिवार का एक कनिष्ठ सदस्य था, इसलिए उसे न तो अपने पुत्रों के हितों के निपटान का कोई अधिकार था और न ही वह किसी वाद या कार्यवाही में उनका प्रतिनिधित्व कर सकता था। खरीदार ने निष्पादन बिक्री द्वारा जो प्राप्त किया वह संयुक्त संपत्ति के किसी विशिष्ट हिस्से में कोई हित नहीं था, बल्कि डिक्री-ऋणी का वह अधिकार था कि वह विभाजन द्वारा अपना हिस्सा परिभाषित और आवंटित कराए, और सामान्य विभाजन के इस दावे में पिता के ऋणों को चुकाने के पुत्रों के धार्मिक दायित्व का प्रश्न बिल्कुल भी नहीं उठेगा। इसलिए, यह माना गया कि वादी कानूनी रूप से संयुक्त संपत्तियों में 1 आना 4 पाई हिस्से का हकदार था, जिसका दावा पिता स्वयं बिक्री की तारीख पर विभाजन होने पर कर सकता था। हमारे विचार के लिए एकमात्र बिंदु यह है कि क्या विद्वान न्यायाधीशों द्वारा अपनाया गया दृष्टिकोण सही है?

इस बिंदु के उचित निर्धारण के लिए, सबसे पहले यह विचार करना आवश्यक होगा कि क्या प्रतिवादी संख्या 1 के पुत्र अपने पिता द्वारा देय डिक्री ऋण को चुकाने के लिए कानूनी रूप से उत्तरदायी थे और क्या इस दायित्व को उनके पिता के हित के साथ-साथ संयुक्त परिवार की संपत्ति में उनके अविभाजित सह-दायिक हित की कुर्की और बिक्री द्वारा लागू किया जा सकता था? यदि दायित्व का अस्तित्व नहीं था, तो कोई अन्य प्रश्न उत्पन्न नहीं होता; लेकिन यदि यह अस्तित्व में था, तो प्रक्रिया के एक प्रश्न पर अभी भी विचार करना होगा कि क्या पुत्रों को वाद

और निष्पादन की कार्यवाही में पक्षकार बनाए बिना सह-दायिकी में उनके हित को कुर्क और बेचा जा सकता था।

जहाँ तक पहले बिंदु का संबंध है, यह प्रश्न कि क्या प्रतिवादी संख्या 1 के पुत्र अपने पिता द्वारा देय डिक्री ऋण को चुकाने के लिए कानूनन उत्तरदायी थे, इसका उत्तर केवल मिताक्षरा कानून के उस सिद्धांत के संदर्भ में दिया जा सकता है जो किसी व्यक्ति के वंशजों पर अपने पूर्वज के ऋणों को चुकाने का कर्तव्य आरोपित करता है, बशर्ते वे अनैतिकता से दूषित न हों। जैसा कि सर्वविदित है, इस सिद्धांत की उत्पत्ति स्मृति लेखकों की अवधारणा में है जो ऋण न चुकाने को एक प्रत्यक्ष पाप मानते हैं, जिसके बुरे परिणाम ऋण न चुकाने वाले ऋणी का परलोक में भी पीछा करते हैं। अगले जन्म में पिता को उसके कष्टों से बचाने के उद्देश्य से ही पुत्रों पर अपने पिता के ऋणों को चुकाने का दायित्व डाला गया है। मूल ग्रंथों में प्रतिपादित इस सिद्धांत को न्यायिक निर्णयों द्वारा कुछ मामलों में संशोधित किया गया है। कानून के अनुसार, जैसा कि अब यह विद्यमान है, पुत्रों का दायित्व कोई व्यक्तिगत दायित्व नहीं है जो किसी संपत्ति की प्राप्ति के बिना भी बना रहे; यह एक ऐसा दायित्व है जो संयुक्त परिवार की संपत्ति में उसके हिस्से के रूप में प्राप्त संपत्ति या उसमें उसके हित तक सीमित है। यह दायित्व बना रहता है चाहे पुत्र वयस्क हों या नाबालिग, या पिता जीवित हो या मृत। यदि ऋण पिता द्वारा लिए गए हैं और वे अनैतिक या अधार्मिक नहीं हैं, तो सह-दायिकी संपत्ति में पुत्रों के हित को हमेशा ऐसे ऋणों के लिए उत्तरदायी बनाया जा सकता है।

हमें इस विचार के लिए कोई आधार नहीं मिलता कि पुत्रों पर उनके पिता के ऋणों को चुकाने का यह धार्मिक दायित्व डालने के लिए यह आवश्यक है कि पिता संयुक्त परिवार का प्रबंधक या *कर्ता* हो, या परिवार केवल पिता और उसके पुत्रों से ही बना हो और कोई अन्य पुरुष

सदस्य न हो। ऐसा कोई प्रतिबंध न तो मूल ग्रंथों से निकाला जा सकता है और न ही उन सिद्धांतों से जिन्हें न्यायिक निर्णयों द्वारा इस सिद्धांत में जोड़ा गया है। जहाँ ऋण परिवार की आवश्यकता या लाभ के लिए लिया जाता है, वहाँ प्रबंधक, चाहे वह पिता हो या न हो, के पास ऐसे ऋणों की संतुष्टि के लिए सह-दायिकी संपत्ति के किसी भी हिस्से को हस्तांतरित करने की निर्विवाद शक्ति होती है, इस तथ्य पर ध्यान दिए बिना कि वास्तव में ऋण किसने लिया था। प्रबंधक का यह अधिकार एजेंसी के सिद्धांत या निहित अधिकार पर आधारित है जिसे मिताक्षरा द्वारा उद्धृत एक पाठ में प्रतिपादित किया गया है। पाठ इस प्रकार है, "संकट के समय में, परिवार के हित के लिए और विशेष रूप से धार्मिक उद्देश्यों के लिए, एक अकेला व्यक्ति भी अचल संपत्ति का दान, बंधक या बिक्री कर सकता है।"¹ हालाँकि, ऐसा पारिवारिक ऋण पिता द्वारा लिए गए व्यक्तिगत ऋण से बिल्कुल अलग आधार पर खड़ा होता है जिससे परिवार को कोई लाभ नहीं होता है। ऐसे ऋण को चुकाने का उसके पुत्रों का दायित्व ऊपर बताए गए सिद्धांत पर आधारित नहीं है, जिसके अनुसार परिवार के कनिष्ठ सदस्यों को पारिवारिक ऋण चुकाने के लिए बाध्य किया जाता है। यह विशुद्ध रूप से धार्मिक आधार पर उत्पन्न एक विशेष दायित्व है और इसे केवल पिता के पुत्रों के विरुद्ध ही लागू किया जा सकता है, किसी अन्य सह-दायिक के विरुद्ध नहीं। इसलिए, इस दायित्व का आधार पूरी तरह से पिता और पुत्र के बीच के संबंध पर है। ऐसा दिखाने के लिए कोई अधिकार-क्षेत्र नहीं है कि यह किसी भी तरह से परिवार के गठन पर निर्भर है, चाहे वह ऋण लेने के समय हो या उस समय जब दायित्व को लागू करने की मांग की जा रही हो। दूसरी ओर, मिताक्षरा के लेखक द्वारा ऋण के विषय को बिल्कुल अलग से निपटाया गया है

1 मिताक. आई.एल. 28.

और स्पष्ट रूप से इसका उत्तराधिकार तथा परिवार के गठन से संबंधित लेखक द्वारा किए गए प्रावधानों से कोई संबंध नहीं है।

उच्च न्यायालय के विद्वान न्यायाधीशों ने इस तथ्य पर बहुत जोर दिया कि वर्तमान मामले में प्रतिवादी संख्या 1 परिवार का एक कनिष्ठ सदस्य था न कि *कर्ता*, और फलस्वरूप संयुक्त संपत्ति में अपने स्वयं के हित या अपने पुत्रों के हित के निपटान का उसे कोई अधिकार नहीं था। ऐसा प्रतीत होता है कि विचार यह था कि यदि पिता अपने स्वयं के ऋणों की संतुष्टि के लिए अपने पुत्रों के सह-दायिक अधिकारों को हस्तांतरित करने में अक्षम था, तो पिता का लेनदार उससे बेहतर स्थिति में होने का दावा नहीं कर सकता था। दृष्टिकोण का यह तरीका हमें सही नहीं लगता। कानून के एक प्रस्ताव के रूप में यह निर्धारित नहीं किया जा सकता कि पिता द्वारा देय ऋण की वसूली के लिए संयुक्त संपत्ति में पुत्र के हिस्से के विरुद्ध कार्यवाही करने की लेनदार की शक्ति, ऐसे हित पर पिता के निपटान की शक्ति के सह-विस्तृत है। जैसा कि इस न्यायालय द्वारा *पन्नलाल और अन्य बनाम श्रीमती नारायणी*¹ के मामले में कहा गया है, "अपने न्यायोचित ऋणों के भुगतान के लिए पारिवारिक संपत्ति को हस्तांतरित करने की पिता की शक्ति उन परिणामों में से एक हो सकती है जो हिंदू कानून ने पुत्रों पर धार्मिक दायित्व के रूप में आरोपित किए हैं; या यह इसे लागू करने के साधनों में से एक हो सकती है, लेकिन यह निश्चित रूप से संपूर्ण दायित्व का पैमाना नहीं है।" यदि लेनदार के अधिकारों को विशेष रूप से पुत्र के हित पर पिता की निपटान की शक्ति पर आधारित माना जाता है, तो ऐसे अधिकार पिता की मृत्यु होते ही, या उसके और उसके पुत्रों के बीच विभाजन होते ही अनिवार्य रूप से समाप्त हो जाने चाहिए। यह स्थापित कानून है कि विभाजन के बाद भी पुत्रों को पिता के विभाजन-पूर्व के ऋणों के लिए उत्तरदायी बनाया जा सकता है, यदि विभाजन के समय ऐसे ऋणों के भुगतान के

1 [1952] एस.सी.आर. 544. 556 पर

लिए कोई उचित व्यवस्था नहीं की गई थी, भले ही पुत्रों के अलग हुए हिस्सों के संबंध में पिता के पास हस्तांतरण का कोई अधिकार न रह गया हो।

यह सच है कि बिहार राज्य में प्रशासित मिताक्षरा कानून के तहत, कोई भी सह-दायिक अपने सह-दायिकों की सहमति के बिना, मूल्यवान प्रतिफल के लिए भी, संयुक्त संपत्ति में अपने अविभाजित हित को हस्तांतरित नहीं कर सकता है; लेकिन भले ही एक सह-दायिक अपने अविभाजित सह-दायिक हित को स्वेच्छा से हस्तांतरित करने में अक्षम हो, उस लेनदार के लिए यह विकल्प खुला है, जिसने उसके विरुद्ध व्यक्तिगत रूप से डिक्री प्राप्त की है, कि वह उसके अविभाजित हित को कुर्क करे और बिक्री के लिए रखे, और खरीद के बाद विभाजन के वाद के माध्यम से उस हित को अलग करवाए। पुत्रों के विरुद्ध प्राप्त व्यक्तिगत डिक्री को निश्चित रूप से उनके अविभाजित हित की कुर्की और बिक्री के माध्यम से उनके विरुद्ध निष्पादित किया जा सकता है। हमारी राय में, स्थिति अलग नहीं हो सकती यदि वे अपने पिता द्वारा देय डिक्री ऋण को चुकाने के कानूनी दायित्व के अधीन हैं; और यह दायित्व उसी तरह से लागू होने योग्य होना चाहिए जैसे उनके विरुद्ध कोई व्यक्तिगत डिक्री हो। क्या यह केवल पुत्रों को बिक्री या निष्पादन की कार्यवाही में पक्षकार बनाकर ही किया जा सकता है, यह एक अलग मामला है जिस पर हम अभी चर्चा करेंगे; लेकिन जहाँ तक पुत्रों के कानूनी दायित्व का संबंध है, क्योंकि पिता द्वारा लिए गए ऋणों को अनैतिक या अधार्मिक नहीं दिखाया गया है, इसलिए यह माना जाना चाहिए कि ऊपर वर्णित हिंदू कानून के नियम के तहत, इन ऋणों को चुकाने का पुत्रों का कानूनी दायित्व है और लेनदार इस दायित्व को पुत्रों के हित की कुर्की और बिक्री के माध्यम से उसी तरह लागू कर सकता है जैसे कि यह उनके द्वारा देय व्यक्तिगत ऋण हो। यह तथ्य कि पिता संयुक्त परिवार का कर्ता या प्रबंधक नहीं था या परिवार में पिता और पुत्रों के अलावा अन्य

सह-दायिक भी शामिल थे, पुत्रों के दायित्व को किसी भी तरह से प्रभावित नहीं करता है। यह दृष्टिकोण इलाहाबाद के साथ-साथ मद्रास उच्च न्यायालयों द्वारा कई मामलों में अपनाया गया है', और हमारी राय में यह अपनाए जाने योग्य काफी ठोस दृष्टिकोण है।

जैसा कि हमने यह माना है कि इस मामले में पुत्र अपने पिता द्वारा देय डिक्री ऋण को चुकाने के लिए उत्तरदायी थे, तो आगे यह प्रश्न उठता है कि इस दायित्व को कैसे लागू किया जा सकता था? क्या पुत्रों को वाद और निष्पादन की कार्यवाही में पक्षकार बनाए बिना संयुक्त संपत्ति में उनके हित को कुर्क और बेचा जा सकता था? यह बिंदु हमें बहुत अधिक कठिनाई वाला प्रतीत नहीं होता। कड़ाई से कहें तो, पुत्रों को उस धन संबंधी वाद में आवश्यक पक्षकार नहीं कहा जा सकता था जो लेनदार द्वारा वचन पत्र के आधार पर पिता के विरुद्ध दायर किया गया था। यदि पिता और पुत्रों के विरुद्ध संयुक्त रूप से डिक्री पारित की गई होती, तो बाद वाले (पुत्र) ऋण के लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी होते और डिक्री को उनकी अलग या व्यक्तिगत संपत्ति के विरुद्ध भी निष्पादित किया जा सकता था। इसमें कोई संदेह नहीं है कि पुत्रों को वाद में पक्षकार बनाया जा सकता था ताकि उनके पिता के ऋणों के प्रति उनके दायित्व का प्रश्न उनकी उपस्थिति में तय किया जा सके। चाहे जो भी हो, पिता के विरुद्ध पारित धन संबंधी डिक्री ने निश्चित रूप से उसके द्वारा देय एक ऋण उत्पन्न किया। यदि ऋण अनैतिकता से दूषित नहीं था, तो ऊपर चर्चा किए गए सिद्धांतों पर संयुक्त संपत्ति में पुत्रों के सह-दायिक हित की कुर्की और बिक्री करके बकाया राशि वसूल करना लेनदार के लिए खुला था। जैसा कि न्यायिक समिति द्वारा मामलों की एक श्रृंखला में निर्धारित किया गया है, जिनमें से *ननोमी बाबूअसिन बनाम मोदुन*

1 देखें ललता प्रसाद बनाम गजाधर, 55 ऑल 28; छोटे लाल बनाम गणपत 57 ऑल. 176; विरय्या बनाम पार्थसारथी, 57 मद्रास. 190.

मोहन² के मामले को एक उदाहरण माना जा सकता है, ऐसे मामलों में लेनदार के पास विकल्प होता है। वह, यदि चाहे, तो केवल पिता के हित के विरुद्ध कार्यवाही कर सकता है, लेकिन यदि वह ऐसा चुनता है, तो वह पुत्रों के हित को भी बिक्री के लिए रख सकता है और यह प्रत्येक व्यक्तिगत मामले की परिस्थितियों के संदर्भ में निर्धारित किया जाने वाला तथ्य का प्रश्न है कि वास्तव में निष्पादन में छोटा हिस्सा बेचा गया था या बड़ा हिस्सा। वर्तमान मामले में, विचारण न्यायाधीश द्वारा एक तथ्य के रूप में यह पाया गया है—और इस निष्कर्ष को अपील में पलटा नहीं गया है—कि निष्पादन न्यायालय का इरादा संयुक्त संपत्ति में चार आना हिस्सा बेचने का था और उसने बेचा, जिसमें प्रतिवादी संख्या 1 के पुत्रों का अविभाजित हित शामिल था। *ननोमी बाबूअसिन के मामले* में प्रिवी काउंसिल द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण के अनुसार, ऐसे मामलों में पुत्र केवल यही दावा कर सकता है कि बिक्री या निष्पादन की कार्यवाही में पक्षकार न बनाए जाने के कारण, उसे किसी भी ऐसे वाद या कार्यवाही में, जो उसके द्वारा शुरू की गई हो या जिसमें उसे पक्षकार बनाया गया हो, ऋण की प्रकृति या उसे चुकाने के अपने दायित्व की जांच करने से रोका नहीं जाना चाहिए। वह इस बिंदु को या तो निष्पादन की कार्यवाही में ही आपत्ति के रूप में उठा सकता था या वह स्वयं यह घोषणा करने के लिए वाद दायर कर सकता था कि ऋण उस पर बाध्यकारी नहीं था। वह इसे बचाव के रूप में भी तब उठा सकता था जब नीलामी खरीदार विभाजन के वाद में अपने अधिकारों को परिभाषित और सीमांकित करने की मांग करता है। हमारे सामने के मामले में, पुत्रों को, जिन्हें विभाजन वाद में प्रतिवादी बनाया गया था, वह अवसर दिया गया था। दुर्भाग्य से, हालांकि, उन्होंने इस अवसर का लाभ उठाना नहीं चुना।

2 13 आई.ए. 1; यह भी देखें *भगवत प्रसाद बनाम मुसम्मात गिरिजा कौर*, 15 आई.ए. 99; *मीनाक्षी नायडू बनाम इममुदी*, 16 आई.ए. 1; *महावीर प्रसाद बनाम मारकंडे*, 17 आई.ए. 11; *श्रीपत बनाम टैगोर*, 44 आई.ए. 1.

1 13 आई.ए. 1

प्रतिवादी संख्या 2, जो प्रतिवादी संख्या 1 का वयस्क पुत्र है, ने कोई लिखित बयान दाखिल नहीं किया और न ही वाद का विरोध किया। नाबालिग पुत्रों, प्रतिवादी 3 और 4 की ओर से वास्तव में एक लिखित बयान दाखिल किया गया था, जिनका प्रतिनिधित्व एक अधिवक्ता अभिभावक द्वारा किया गया था और वहां यह बिंदु विशेष रूप से उठाया गया था। लेकिन अभिलेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने इस बिंदु पर कोई विवाद्यक बनाने के लिए न्यायालय को आमंत्रित नहीं किया, और न ही इस पर कोई साक्ष्य प्रस्तुत किया। इसलिए, वे यह दिखाने में विफल रहे कि ऋण ऐसा था जिसे चुकाने के लिए वे हिंदू कानून के नियम के तहत बाध्य नहीं थे। यह भी ध्यान दिया जा सकता है कि यद्यपि विचारण न्यायालय का निर्णय पुत्रों के विरुद्ध था, उन्होंने अपील के माध्यम से डिक्री को चुनौती देना नहीं चुना। अपील केवल उनके पिता द्वारा दायर की गई थी और उन्हें प्रतिवादी बनाया गया था; और बहुत बाद के चरण में अपीलीय न्यायालय ने उन्हें अपीलकर्ताओं की श्रेणी में स्थानांतरित किया। उच्च न्यायालय के विद्वान न्यायाधीशों की राय यह प्रतीत होती है कि *ननोमी बाबूअसिन के मामलों* में न्यायिक समिति द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत या उसके बाद के अन्य मामले केवल तभी लागू हो सकते हैं जब पिता परिवार का मुखिया हो और उस क्षमता में वाद या निष्पादन की कार्यवाही में अपने पुत्रों का प्रतिनिधित्व कर सके। लेकिन यदि पिता *कर्ता* नहीं था, तो यह कहा गया है कि यह सिद्धांत लागू नहीं होगा और खरीदार केवल पिता का अधिकार, हक और हित ही प्राप्त कर सकेगा, भले ही न्यायालय ने पुत्रों के हित को भी बेचने का इरादा किया हो। हमें यह एक ठोस दृष्टिकोण नहीं लगता। यह सच है कि ऊपर उल्लिखित सभी मामलों में, पिता वास्तव में परिवार का मुखिया था, लेकिन इससे सिद्धांत में कोई अंतर नहीं आता। यदि अंतर पिता की उस क्षमता के आधार पर करने का प्रयास किया जाता है जिसके तहत वह किसी मुकदमेबाजी में पुत्रों का प्रतिनिधित्व करता है, तो यह

कहा जा सकता है कि, पुत्रों के इस अधिकार के अधीन कि वे यह दावा कर सकें और सिद्ध कर सकें कि उनके पिता द्वारा लिया गया ऋण हिंदू कानून के नियम के तहत उन पर बाध्यकारी नहीं था, पिता, भले ही वह *कर्ता* न रहा हो, बिक्री या निष्पादन की कार्यवाही में अपने पुत्रों का उतना ही प्रभावी ढंग से प्रतिनिधित्व कर सकता था जितना वह स्वयं कर्ता होने की स्थिति में कर सकता था। *कर्ता* न होते हुए भी, एक पिता के रूप में, वह स्वयं और अपने पुत्रों वाले सह-दायिकों की अपनी शाखा का पूरी तरह से प्रतिनिधित्व कर सकता था; और अपने पुत्रों के संबंध में उसकी स्थिति परिवार का *कर्ता* होने से किसी भी तरह से बेहतर नहीं हो जाती। मद्रास के एक मामले ²में यह देखा गया है, और हम समझते हैं कि सही देखा गया है, कि जब तक परिवार संयुक्त रहता है, परिवार की एक शाखा या उप-शाखा के सभी सदस्य बड़े परिवार के भीतर एक विशिष्ट और अलग कॉर्पोरेट इकाई बना सकते हैं। पिता और उसके पुत्रों वाली ऐसी छोटी इकाई का पिता निस्संदेह प्रमुख और कानूनी प्रतिनिधि होगा, भले ही वह बड़ी इकाई का प्रमुख न हो। इसलिए, हमारी राय में, उच्च न्यायालय का यह मानना सही नहीं था कि वादी निष्पादन बिक्री में अपने पूर्ववर्ती द्वारा की गई खरीद के बल पर संपत्ति में 4 आना हिस्से का दावा केवल इसलिए नहीं कर सकता क्योंकि उस समय पिता संयुक्त परिवार का प्रबंधक या *कर्ता* नहीं था। परिणाम यह है कि यह अपील स्वीकार की जाती है, उच्च न्यायालय के निर्णय और डिक्री को अपास्त किया जाता है और विचारण न्यायाधीश के निर्णय और डिक्री को बहाल किया जाता है। वादी को इस न्यायालय के साथ-साथ अधीनस्थ न्यायालय का खर्च भी मिलेगा।

1951 की दीवानी अपील संख्या 54 और 55।

2 देखें सुदर्शनम बनाम नरसिंहलु, आई.एल.आर. 25 मद्रास 149, 155

अब धन संबंधी अपीलों पर आते हैं, विचार के लिए बिंदु संक्षिप्त है। जिन वादों से ये अपीलें उत्पन्न हुई हैं, वे विभाजन वाद के वादी द्वारा प्रथम पक्ष के प्रतिवादियों के विरुद्ध वादों की अनुसूचियों में निर्दिष्ट संपत्तियों की आय या मुनाफे के अपने 4 आना हिस्से की वसूली के लिए दायर किए गए थे, और जो स्वीकार्य रूप से उसकी खरीद में शामिल थे। इसमें यह आरोप लगाया गया था कि प्रथम पक्ष के प्रतिवादियों ने पूरे मुनाफे को स्वयं हड़प लिया और वादी को उसका वैध हिस्सा देने से इनकार कर दिया। उच्च न्यायालय ने यह माना है कि वादी का यह दावा विफल होना चाहिए। उसने निष्पादन बिक्री में जो कुछ भी खरीदा था, वह संयुक्त संपत्ति में सह-दायिकों का अविभाजित हित था। उसने संपत्ति के किसी भी परिभाषित हिस्से पर स्वामित्व प्राप्त नहीं किया था और वह अपनी खरीद की तारीख से संयुक्त कब्जे का हकदार नहीं था। वह अपने अधिकारों का निपटारा केवल विभाजन के वाद के माध्यम से ही कर सकता था और उसके कब्जे का अधिकार उस अवधि से माना जाएगा जब उसके पक्ष में विशिष्ट आवंटन किया गया हो। हमारी राय में, यह अपनाया जाने वाला सही दृष्टिकोण है और इन अपीलों के समर्थन में उपस्थित श्री दफ्तरी हमें संतुष्ट नहीं कर सके कि कानूनन उनका मुवक्किल अपनी खरीद की तारीख से ही संयुक्त कब्जे का हकदार था। परिणाम यह है कि ये अपीलें लागत के साथ खारिज की जाती हैं।

अपील संख्या 53 स्वीकार की गई।

अपील संख्या 54 और 55 खारिज की गई।

अपीलकर्ता के एजेंट: *राजिंदर नारायण।*

उत्तरदाता संख्या 1 और 2 के एजेंट: *पी. जी. अग्रवाल।*

खंडन (डिस्क्लेमर)- स्थानीय भाषा में निर्णय के अनुवाद का आशय, पक्षकारों को इसे अपनी भाषा में समझने के उपयोग तक ही सीमित है और अन्य प्रयोजनार्थ इसका उपयोग नहीं किया जा सकता। समस्त व्यवहारिक, कार्यालयी, न्यायिक एवं सरकारी प्रयोजनार्थ, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रमाणिक होगा साथ ही निष्पादन तथा कार्यान्वयन के प्रयोजनार्थ अनुमान्य होगा।